वर्त्तमान युग में श्रमण

⊙ उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द जी

उज्जवल श्रमण-परम्परा

श्रमण-संस्कृति की उज्ज्वल परम्परा ने शील, संयम; तप और शौच को चारित्र में परिवर्तित कर मानव-जीवन को युगों-युगों से विभूतिमय किया है। आचार और विचार के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित किए हैं। मानव को मानव समझने का विवेक जन-मानस में अंकुरित किया है और अखिल मंगलमय अहिंसामूलक विश्व मैत्री का सन्देश दिया है। समय-समय पर आनेवाले दुरन्त उपसर्गों को पार कर आज भी वह अपने अर्ध धरातल पर अवस्थित है और काल प्रभाव से प्रभावित न होते हुए काल-दोषों को निरस्त करने में ही संलग्न है। आज जबकि विश्व में काले, गोरे तथा परस्पर भिन्न जाति सत्ताक मानवों में एक-दूसरे को समाप्त करने की स्पर्धा लगी हुई है, जिज्ञांसु वृत्ति से सीमातिक्रमण किये जा रहे हैं, मानव को परित्राण देने का पाथेय केवल उदर श्रमण-संस्कृति में हैं। क्षमा और अहिंसा के मणि-पीठ से भगवती जिनवाणी पुकार-पुकार कर कहती है। "खम्मामि सव्वजीवान् सव्वे जीवा खमन्तु मे" मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और सारे जीव मुझे क्षमा करें। सम्पूर्ण भूगोल और खगोल पर एकाधिपत्य चाहने वालों को "परिग्रह-परिमाण के सूक्त श्रमण संस्कृति ने ही दिए हैं। जहां शरीर भी परिग्रह है वहाँ संग्रह वृत्ति के लिए स्थान कहाँ? ऐसी उदार, करुणावतार तीर्थंकरवाणी का प्रसार कर्ता निर्मल मन, काय, वचन दिखलाता, जन को मोक्ष द्वार। सम्यक्त्व-शिला पर लिखे यहाँ दर्शन ज्ञान-चारित्र-लेख, सम्पूर्ण विश्व को अभयदान देते जिन-वाणी के प्रदेश। इसकी कल्प-वृक्ष छाया में स्थित होकर मानव धर्म ने अपना सर्वस्व प्राप्त किया है।

श्रमण-संस्कृति का मानव-जाति पर उपचार :

इस संस्कृति ने मानव को भक्ति मार्ग दिया, मुक्ति-पथ के रत्न-सोपानों की रचना की और विश्व-बन्धुत्व के भाव दिये। इसमें आश्रय में पल कर मनुष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने अहिंसक समाज की रचना की और अपने को व्यसनों से मुक्त किया । व्रत-रहित-गन्तव्य मान से अजान मानव को व्रत-निष्ट किया तथा इन्द्रियों की दासता से मुक्त किया । इसी के नेतृत्व में मनुष्य आदर्शों के ऊँचे मार्गों का आरोही बना और इसी के आचार्य मार्ग से चलकर उसने कैवल्य प्राप्त किया ।

न धर्मोधार्मिकैर्विना

ऐसी निर्दोष संस्कृति में आज जान बूझकर विकारों का प्रवेश कराया जा रहा है । जहाँ श्रमण श्रमणी और श्रावक श्राविका (चतुःसंघ) मिलकर धर्म के इस महारथ को खींचते थे, वहाँ आज ये पृथक्-पृथक् होकर 'महारथ' को गति देने में असमर्थ हो गये हैं । अंग अंगी के समान धर्म और धार्मिक का नित्य संबन्ध है । न धर्मो धार्मिकैर्विना यह अव्यभिचारी सूत्र हैं ।

तीन रत्नों की माला

मोक्ष मार्ग का निरूपण करते हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्ष-मार्गः कहा गया है । "मोक्षमार्ग" पद एकवचनान्त है और सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणी' बहु वचन है । मोक्ष मार्ग में 'त्रितयमिदं व्याश्रियते' ये तीनों साधन है । इनमें से किसी एक अंग को लेकर प्रवर्तमान होनेवाले सम्यक्त्व की अखिलता को जानकर उसके खण्ड से चिपके हुए है । समाज का पण्डित वर्ग सम्यक्त्व परिच्छिन्न ज्ञान को लिए घूमता है । श्रावक समदर्शन से सन्तुष्ट है, और त्यागी चारित्र मात्र में अपने श्रामण्य को कृतार्थ समझते हैं । एक सूत्र में पिरोने पर जो माला निर्माण की जाती है, उसी की एक-एक मणि को विकीर्ण करने में माला का गुम्फ नहीं आ पाता । सम्यक्त्व से विशिष्ट दर्शन ज्ञान और चारित्र की यह माला ही अपने अत्रुटित जाप्य से मोक्ष सिद्धि दे सकती है । इसे एकैकशः विभक्त करनेवाले तो 'अन्धगजन्याय' के अनुगामी हैं । जैसे 'अन्धगजन्यायवादी परस्पर अपने 'गज' सम्बन्धी ज्ञान पर विवाद करते है और अपने एकांगी एकान्त ज्ञान को सत्य ठहराते हैं, उसी प्रकार मोक्ष मार्ग के त्रिरत्न-सत्य को विभक्त कर एक दूसरे से निरपेक्षता रखनेवाले सामाजिकों ने सर्वोदयी तीर्थ के तीन मणिसोपानों का अलग-अलग अपहरण कर लिया है ।

भावात्मक विभिन्नता के दुष्परिणाम

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस अपहरण काण्ड से समाज में गिरावट ही आई है । एक के पास कर्म के संवर करने का दिव्यास्त्र रह गया है तो निर्जरा का अमोघास्त्र नहीं है तो दूसरे के पास निर्जरा मात्र रहकर 'संवर' का अभाव हो गया है । परिणाम स्वरूप विसंवाद और शिथिलाचार का प्रवेश हो गया है । समाज अपने संगठन की शक्ति को खोता जा रहा है । 'नागेन्द्रा अपि बध्यवन्ते संहतैस्तृणसंचयैः' तिनकों की रस्सी बनाकर उससे गजराज को बांध लिया जाता है । किन्तु यदि तिनका-तिनका पृथक् कर दिया जाए तो स्पष्ट है कि उसमें गजेन्द्रबन्धन का सामर्थ्य नहीं है । सम्यक्त्वानुपूर्विक दर्शन-ज्ञान-चारित्र को एक बंटी हुई रस्सी के रूप में देखनेवाला ही उससे परम पुरुषार्थ की उपलब्धि कर सकता है । इस समन्वित दृष्टि कोण को चतुःसंघ की भावात्मक एकता से ही प्राप्त किया जा सकता है । आहार देनेवाला और उसे ग्रहण करने वाला तथा आहारशास्त्र की व्यवस्था देनेवाला (श्रावक-श्रमण और पण्डित) तीनों यदि संघ प्रेम से कर्त्तव्य-नियोजित हों तो आचारशैथिल्य आ ही नहीं पाएगा । अपना हाथ अपने मुँह में विषाक्त कवल नहीं देता । किन्तु अपने हाथ और मुँह जो शरीर के अंग हैं तथा अंगी के लिए कर्त्तव्य समर्पित हैं यदि अपना 'अंगांगी' भाव भूल जाएँगे तो विषकवल देना हाथ के लिए और उसे उदरसात् करना मुँह के लिए कठिन नहीं होगा । 'एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिणः त एव निधनं यान्ति' यह एक कथा है जिसमें बताया गया है कि एक पशु के पेट तो एक था, किन्तु मुख दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे। एक दिन दोनों मुख किसी बात पर झगड़ने लगे। परस्पर की बैर भावना से उनमें से एक मुख ने विष खा लिया। पेट तो एक ही था। परिणाम यह हुआ कि वह मर गया। जो एकोदर होकर विसंवादी मुख रखते हैं वे अपनी ही मृत्यु के निमत्रयिता बनते हैं।

परस्परोपग्रह-एकमात्र समाधान

भावात्मक एकता में कभी-कभी ऐसा ही होता है कि दूसरे के अनिष्ट चिन्तन में अपना अहित हम कर बैठते है। अपने सम्पूर्ण अंग से प्रेम करने वाला अंग के किसी अंश के दूषण को दूर करने में अपना सम्पूर्ण यत्न लगा देगा। यदि पाँव में काँटा चुभ गया है और सुई पास नहीं है तो वह अपने नखों से भी उसे निकाल बाहर करेगा। यही अंग-धर्म है। चतुःसघ में। जैसा कि आज सुनने में आ रहा है, यदि आचार शैथिल्य प्रवेश कर गया है तो अंगांगी भाव से उसका निराकरण करना अधिक श्रेष्ट है। एक दूसरे पर दोषारोपण न करके 'परस्परोपग्रह' से अपने आपको शैथिल्य को दूर कर सकें तो वह अच्छा रहेगा। कोई भी विनाशक तत्व सूचीमुख होकर प्रवेश करता है और जब निकलता है तो गोली के समान निकलने के मार्ग को विस्तीर्ण कर देता है। शिथिलाचार के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

लोकैषणा का अनुचित रूप

आजकल के छपे धार्मिक ग्रन्थों में अर्थ सहायता करनेवाले धनिक के फोटो छापे जाते है। जिनकी प्रेरणा से ग्रन्थ छपते है उन श्रमणों के भी चित्र उनमें होते हैं। जो लोग रात दिन हजारों लाखों रुपयों से खेलते हैं, वे धार्मिक ग्रन्थों के पृष्ठों से अन्यत्र अपना अर्थ-व्यय करते समय कभी 'फोटो' नहीं छपवाते किन्तु धर्मध्वज होने की तृष्णा में लोकैषणा साथ मिली होती है। केवल धर्म भाव से 'गुप्तदान" आजकल नहीं किया जाता। भले ही अधर्म करते समय व्यय किये गये लाखों रुपयों पर उनकी 'फोटो' न लगे, किन्तु धर्म शरीर पर उनकी मुद्रा (द्रव्य) अमुद्रित कैसे रहे ? अपने मान को करते समय धर्म ग्रन्थों की मर्यादा को भुलानेवाले स्वयं अपने कृत्य पर सोचें। इधर कुछ समय से मुनि मूर्तियाँ बनाई जा रही हैं। पहले जिन-वाणी के साथ फोटो छपते थे अब 'जिन' भगवान के साथ मूर्ति भी रखी जाया करेगी। धीरे-धीरे प्रगति की जा रही है। एक वे त्यागी थे, जिन्होंने जिनवाणी को ग्रन्थ रचना का रूप देकर भी अपने आपको पर्दे में रखा, परिचय तक नहीं लिखा और धर्म ध्यान करते हुए जीवन को सार्थक किया। श्रावकों ने भावना से अभिभूत होकर उनकी 'चरण पादुका' विराजमान कर दी। उन चरण पादुकाओं का इतिहास भी विशेष विस्तृत नहीं। पंचम काल के श्रुतकेवली भद्रबाहु आचार्य और ज्ञान ज्योति से भासमान कुन्दकुन्द आचार्य जैसों की समाधि-मरणोत्तर प्रतिष्ठा के रूप में 'पद पादुकाएँ' मिलती हैं। चन्द्रगिरि पहाड़ी का शिला लेख है 'जिनशासना यावनवरत 'भद्रबाहु चन्द्र गुप्त' मुनिपतिचरण मुद्राकित विशालशी....'162। कुन्दाद्रि आदि क्षेत्रों में भी आचार्य कुन्दकुन्द की चरण पादु-काएं ही मिलती हैं, मूर्तियाँ नहीं। आज तो पंचम काल अपनी सम्पूर्ण ग्रभविष्णुता के साथ ताल देकर नाच रहा है। शरीर को भी परिग्रह माननेवाले मुनि प्रतिमाओं के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। किन्तु नातस्त्वमसि नो महान्" कहने का साहस रखनेवाले परीक्षा प्रधानियों को आगम विरुद्धता से उत्कीर्ण ये प्रस्तर क्या मान्य होंगे ?

समय की माँग

समय की माँग तो यह है कि सहसूत्रातिसहस्त्र मूर्ति से सम्पन्न जैन-जगत् नवीन मूर्ति-निर्माण से पूर्व अपने मन्दिरों, चैत्यालयों में प्रतिष्ठापित जिन बिम्बों की पूजा प्रक्षाल की व्यवस्था करे। ग्रन्थों और मूर्तियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीं संख्या कम नहीं है। कभी है तो उनके स्वाध्यायियों और उपासकों की है। इस संख्या को बढ़ाने की ओर ध्यान देना अतीव आवश्यक है। भगवान की मूर्तियाँ, एक एक मन्दिर में अनेक है। देव दर्शन के नियमों का पालन करने में अपनी धर्म प्रवृत्ति लगाओ। धर्म और जीवन को एकाकार करो। मत समझो कि मन्दिर से लौटने पर मूर्ति आँखों से परोक्ष हो गई। भावचक्षुओं में उसे अहर्निश विराजमान रखो। दश दिनों में दश लक्षण पर्वों को समर्पित मत करो। प्रत्येक दिन अहिंसा का है, क्षमावाणी का है। जब तक धर्म की इस दार्शनिक व्याख्या हृदयंगम नहीं करोगे, धर्म जीवन का अंग बनेगा। अग्नि और उसका दाहकत्व, पानी और उसका शीतत्व, अग्नि से पृथक् होकर नहीं रहता। धर्म और धर्मी एक नीड होकर रहते हैं। श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org